दोष विज्ञान ।

लेखक—

वैद्यवर बाबू राधावल्लभ

सुधानिधि ग्रन्थावली नं० ८

दोष विज्ञान

सञ्चयञ्च प्रकोपञ्च प्रसरं स्थान संश्रयम् ।
व्यक्तिं भेदञ्च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक् ॥

—सुश्रुतः

इसमें दोषोंका स्थान, संश्रय अर्थात् सञ्चय, प्रकोप,
प्रसर आदि विषय सरलता और उत्कृष्टतासे
दिखाये गये हैं ।

—:०:—

लेखक—
विजयगढ़, अलीगढ़ निवासी,
स्वर्गीय वैद्यवर राधावल्लभ जी ।

प्रकाशक—
जगन्नाथप्रसाद, शुक्ल वैद्य ।

द्वितीय बार } संवत् १९७५ { मूल्य =)॥ प्रति ।

पं० सुदर्शनाचार्य्य बी० ए० के प्रबन्ध से सुदर्शन प्रेस, प्रयाग में मुद्रित।

दोष विज्ञान



स्वर्गीय ला० राधावल्लभ जी वैद्यराज
विजयगढ़

The National Press, Allahabad

हमारा कथन

हिन्दी-साहित्यमें आयुर्वेदीय वैद्यक सम्बन्धी पुस्तकोंकी बहुत कमी है, जो हैं भी उनमें अधिकांश प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ भाषाटीका युक्त ही अधिक देखनेमें आते हैं। केवल हिन्दी-भाषामें, प्राचीन ऋषियोंके सद्भावोंको समझानेवाली मुख्य मुख्य विषयों पर स्वतन्त्र पुस्तकें बहुत कम लिखी गयी हैं। इसका मुख्य कारण तो यह है कि उक्त प्रकारकी सर्वोपयोगी पुस्तकोंके लेखकोंका ही प्रथम तो अभाव है यदि कोई लेखक लिखे भी तो उसके उत्साहका वर्धन नहीं होता और पुस्तकके द्वितीय संस्करणके प्रकाशित होने की नौबत नहीं आती। कारण यह कि अश्लील और गंदे साहित्यके प्रेमियोंके ही संख्या देशमें अधिक है और इसीसे उक्त साहित्यकी पुस्तकें धड़ाधड़ बिकती जाती हैं। उनके आगे स्वास्थ्यप्रद अमूल्य पुस्तकोंकी ओर लोगोंकी बहुत ही कम दृष्टि जाती है। हाँ अब कुछ नवयुवक तथा वैद्यकके वर्तमान विद्यार्थी इस प्रकार-की पुस्तकोंका आदर करने लगे हैं। इन्हींकी गुण-ग्राहकताका फल है कि इस पुस्तकका प्रथम संस्करण बिक गया और इस दूसरे संस्करणके छपनेका अवसर आया है। पुस्तकके लेखक-का उत्साह उसकी पुस्तकके दूसरे संस्करणके छपनेमें न जाने कितने गुणा बढ़ जाता है। किन्तु खेद है कि इस पुस्तकके लेखक वैद्यराज राधावल्लभजी अपनी कृतिका दूसरा संस्करण न देख सके और असमय कराल कालने इस संसारसे उन्हें उठा लिया! आपने ऐसी कई उपयोगी पुस्तकें लिखी थीं जिनमेंसे पंचकर्म विवेचन, प्राकृतज्वर और इस पुस्तकके प्रका-

शन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। भगवानकी कृपासे आपकी उक्त तीनों पुस्तकोंका वैद्य समुदायने समुचित आदर किया है और सभी द्वितीय बार फिरसे प्रकाशित हुई हैं। इस कागज़ और स्याहीकी महँगीके समयमेंभी मैंने पुस्तकें जैसी छापी हैं वे आपके सामने प्रस्तुत हैं। अब इनके अपनाने और प्रचार करनेका आपका काम है। हमें विश्वास है कि इनका जितना ही अधिक प्रचार होगा उतनी ही अधिक प्रसन्नता उनकी आत्मा को स्वर्गमें प्राप्त होगी और मुझे भी अपने कार्यमें अधिक उत्साहकी वृद्धि होगी।

—प्रकाशक।

दोष विज्ञान ।

सञ्चयञ्च प्रकोपञ्च प्रसरं स्थानसंश्रयम् ।
व्यक्ति भेदञ्च यो वेत्ति दोषाणां, स भवेद् भिषक् ॥" सुश्रुत

(दोषों के सञ्चय, प्रकोप, प्रसर, (अन्य स्थानमें जाना) स्थान संश्रय [किसी स्थानमें टिकना] व्यक्ति [प्रकटता] और भेदको जो जानता है वह वैद्य है ।)

दोष दो प्रकारके हैं, शारीरिक और मानसिक; शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले वात, पित्त, कफ, शारीरिक, और मनसे सम्बन्ध रखनेवाले रजस और तमस मानसिक दोष कहलाते हैं।

जिस प्रकार इस संसारको सोम (चन्द्र) सूर्य्य, और वायु अपने विसर्ग (त्यागना पृथ्वीको जलादि देना) आदान (गुणोंको खींचना) और विक्षेप (सञ्चालन) इन तीन प्रभावों द्वारा धारण कर रहे हैं, उसी प्रकार सोम गुण विशिष्ट कफ, और आग्नेय पित्त, और वायु ये तीन दोष इस शरीरको धारण करते हैं। विकार रहित ये दोष अपने नियत स्थानोंमें स्थित रह कर शरीरको स्वस्थ रखते हैं। यदि इनमें किसी प्रकारका विकार हो जाये तो शरीर कभी आरोग्य नहीं रह सकता। दोषोंकी समान अवस्थाको स्वास्थ्य और विषमताको रोग कहते हैं।

वायु ।

वात, पित्त कफ़ धातु मल आदिका नेता है (लेजानेवाला प्रेरण करनेवाला है) अर्थात् दोष, धातु, मल आदि वायुके द्वारा ही शरीरमें एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचाये जाते हैं। जिस प्रकार संसारमें विचरनेवाला वाह्य वायु तृण धूलि आदिको लेजाकर दूसरे स्थानोंमें पहुँचाता है उसी प्रकार शरीरस्थ आभ्यन्तरिक वायु जब विकार रहित होता है, तब दोषादिको नियत स्थानोंमें और विकृत होकर कहींका कहीं पहुँचा देता है। वायुमें रजोगुण प्रधानतासे रहता है और यह योग वाही है, (दूसरेसे मिलकर उसीके समान प्रभाव दिखाता है) जैसे ग्रीष्म ऋतुमें गरमीसे मिलकर उष्ण और हेमन्त ऋतुमें सर्दीसे मिलकर शीत, सुगन्धयुक्त पदार्थोंसे मिलकर सुगन्धित, दुर्गन्धित पदार्थोंसे मिलकर दुर्गन्धित हो जाता है। वैसे ही शरीरके भीतर तेजके साथ (आग्नेय पित्तके साथ) मिलकर दाह करनेवाला और सोम (सौमीय कफ़) से मिलकर शीतल हो जाता है। वायुके रूक्ष (रूखापन) लघु (हलकापन) शीत, खर, सूक्ष्म और चल ये छः गुण होते हैं। यह एक प्रकारका होने पर भी स्थान और क्रियाओंके भेदसे पांच प्रकारका विभाग किया जाता है; और सामान्यतासे श्रोणि और गुदामें रहता है। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान ये वायुके पांच भेद हैं। हृदयमें रहनेवाला प्राण, गुदामें रहनेवाला अपान, नाभिमें रहनेवाला समान, कण्ठमें रहनेवाला उदान और सम्पूर्ण शरीरमें रहनेवाला व्यान कहलाता है। किन्तु वायुके स्थानोंमें सब ऋषियोंका समान मत नहीं है। वाग्भट प्राण वायुका शिर, उदान वायुका छाती, व्यान

वायुका हृदय, समान वायुका अग्निके समीप, अपान वायुका गुदा प्रधान स्थान बतलाते हैं। प्राणवायु शिरमें रहता हुआ भी छाती और कण्ठ तक घूमता है, उदान वायु प्रधानतासे छातीमें रहकर नासिका नाभि और गलेमें विचरता है। इसी प्रकार व्यानवायु सम्पूर्ण शरीरमें, समान वायु चारों तरफ़से उदरमें और अपान वायु कमर वस्ति (पेड़ू) लिङ्ग और जङ्घामें ये सब अपने अपने प्रधान स्थानोंमें रहते हुए भी घूमते हैं।

पञ्चवातोंके विशेष कार्य्य।

प्राणवायु-मुखमें आये हुए भोजनादिकोंको भीतर प्रवेश करता है और प्राणोंकी रक्षा करता है।

उदानवायु—इसके द्वारा मनुष्योंकी वाणीकी प्रवृत्ति होती है अर्थात् बोलना गीत आदि गाना इसीसे होते हैं।

समानवायु—अन्नको ग्रहण करता है, पकाता है और पके हुएका विभाग करता है। अर्थात् रस, दोष, मल मूत्रादिकोंको अलग अलग करता है, योग्य समय पर विष्ठा, मूत्र, वीर्य्य, रज, गर्भ, आदिकोंको नीचे निकालता है।

व्यानवायु—रसादि धातुओंको बहाता है। पसीना, रुधिर आदिको निकालता है। शारीरिक पञ्चकर्म्मोंको (पसारना, सिकोड़ना, ऊंचा करना, नीचा करना, तिरछा करना,) कराता है।

विकृत (बिगड़नेसे) रोग।

प्राणवायु बिगड़ कर-हिक्का श्वासादि रोगोंको उत्पन्न करता है।

उदानवायु—नेत्र, नासिका, कर्ण, और शिर सम्बन्धी रोगोंको पैदा करता है।

समानवायुके बिगड़ने से—गुल्म, अग्निमांद्य, अतिसार आदि रोग पैदा होते हैं।

दुष्ट हुआ अपानवायु—बस्तिके रोग, पथरी, मूत्रकृच्छ्र आदि गुदाके रोग अर्श भगन्दर आदि रोगोंको उत्पन्न करता है।

व्यानवायु—प्रायः सम्पूर्ण शरीरमें होनेवाले रोग ज्वर, वातरक्त, कुष्ठ आदि पैदा करता है।

पित्त

पित्त—एक द्रव (पतला) पदार्थ है। गरम, चिकना लघु, हलका तीक्ष्ण और दुर्गन्धि युक्त, बिष्टाको नीचे बहाने वाला है। रंग उसका पीला और नीला है। सतोगुण प्रधान वाला और अम्ल विपाक वाला है सामान्यतासे आमाशयमें रहता है।

वायुकी तरह यह भी स्थान और कार्य्य भेदसे पांच प्रकारका है। पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक ये पांच पित्त के नाम हैं।

पाचक, अग्न्याशयमें, रञ्जक यकृत और प्लीहामें (वाग्भटके मतसे आमाशयमें), साधक हृदयमें, आलोचक नेत्रोंमें, भ्राजक सम्पूर्ण त्वचा और शरीर में रहता है।

कार्य्य-विभाग।

"पाचक पित्त"—आहारको पचाता है, रस, दोष, मल मूत्रको अलग अलग करता है। शेष चार प्रकारके पित्तोंके बल-को बढ़ाता है। रस रक्तादि धातुओंमें रहने वाली गरमीको

बढ़ाता है। पांचों प्रकारके पित्तोंमें पाचक पित्त मुख्य माना गया है; क्योंकि पाचक पित्तके घटने बढ़नेसेही शेष पित्त घटते बढ़ते हैं।

"रञ्जक पित्त"—रसको रुधिर बनाता है।

"साधक पित्त"—बुद्धि, धारणा-शक्ति, स्मरण-शक्तिको करता है।

"आलोचक पित्त"-नेत्रों द्वारा रूप ग्रहण करता है।

"भ्राजक पित्त"—कान्तिकारक, लेप, मालिश, स्नानादि क्रियाओंके द्रव्योंको सुखाने वाला है।

विकृतिसे रोग।

पांच प्रकारके पित्त और उनके कार्योंको जो ऊपर कहा है, उनमें जिस पित्तमें विकार हो उसीके कार्यमें बाधा पड़ती है। जैसे पाचक पित्त बिगड़नेसे अविपाक, रञ्जक बिगड़नेसे रुधिरका कम बनना या ठीक न बनना इत्यादि।

कफ।

चिकना, शीतल, भारी, गाढ़ा, श्वेत रंगवाला, मधुर गुणोंवाला, लवण विपाकवाला है। इसमें तमोगुण अधिक रहता है। कफ भी वातादि दोषोंके समान क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन, श्लेष्मण, इन नामों करके पांच प्रकारका है और सामान्यतासे शरीरमें रहता है। क्लेदन आमाशयमें, अवलम्बन हृदयमें, रसन कण्ठमें, स्नेहन सिरमें और श्लेषण सन्धियोंमें रहता है।

कार्य्य।

"क्लेदन"—भोजन किये हुए पदार्थको गीला करता है।

अपनी शक्तिसे शेष कफके स्थानोंको तथा समस्त शरीरको जल कर्म्मद्वारा गीला करता है। वाग्भट्ट यह कार्य अवलम्बन कफका बतलाते हैं।

"अवलम्बन"—रसयुक्त अपनी शक्तिसे हृदयको अवलम्बन करता है और त्रिक हड्डीको धारण करता है।

"रसन कफ"—मधुरादि षट रसोंका ज्ञान कराता है, वाग्भटमें इसीसे इसे बोधक कहा है।

"स्नेहन कफ"—चिकनाई देकर समस्त इन्द्रियोंको तृप्त करता है। वाग्भट्टने इसे तर्पक कहा है।

"श्लेषक कफ"—समस्त सन्धियोंको जोड़ता है।

विकृतिसे रोग।

जिस कफमें विकार हो उसीके ऊपर वर्णन किये हुए कार्योंमें बाधा पड़ती है। जैसे रसन कफमें विकार होनेसे रसोंका ज्ञान न होना, श्लेषक कफके बिगड़ने पर सन्धियोंका शिथिल होना इत्यादि।

सञ्चय, प्रकोप, प्रशमक ऋतुदर्शक कोष्ठम्।

नाम दोष	सञ्चयकारक-ऋतु	प्रकोपकारक-ऋतु	प्रशमक ऋतु
वात	ग्रीष्म	वर्षा(प्रावृट्)	शरद्
पित्त	वर्षा	शरद्	हिम
कफ	शिशिर	वसन्त	ग्रीष्म
	हेमन्त		

चय प्रकोप प्रशंसावायोः ग्रीष्मादिषु त्रिषु ।
वर्षादिषु तु पित्तस्य, श्लेष्मरणः शिशिरादिषु—(अष्टाङ्ग हृदय)

स्पष्टीकरण (खुलासा) ।

"ग्रीष्म"—ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी प्रचण्ड (तेज़) धूप और गरमीसे प्रायः सम्पूर्ण चीज़ें निर्बल और रूखी हो जाती हैं। रूक्ष, लघु गुणाधिक वस्तुओंके सेवन करनेसे इस ऋतुमें वायुका सञ्चय होता है; क्योंकि रूक्ष लघु गुणवाला वायु अपने समान गुणवाले पदार्थोंसे वृद्धिको प्राप्त होता है । रूक्ष लघु आदि गुणोंके बढ़नेसे स्निग्ध गुरु आदि गुण क्षीण हो जाते हैं। इससे स्निग्धादि गुणोंवाला वायु स्वयं शान्त हो जाता है ।

"प्रावृट्"—ग्रीष्म ऋतुमें सञ्चित हुआ वायु प्रावृट्में जबकि जलसे गीली पृथ्वी होती है, ठण्डा पवन और वर्षा आदि बाहरी कारणोंसे प्रेरित होकर कोपको प्राप्त होता है ।

"वर्षा"—वर्षाऋतुमें उत्पन्न हुई चीज़ें थोड़े पराक्रमवाली होती हैं। पृथ्वी प्रायः जल और कीचड़-युक्त होती है, आकाश बादलोंसे घिरा रहता है। ये बातें मन्दाग्निवाले पुरुषोंको विदाह पैदा करती हैं जिससे इस ऋतुमें पित्त का सञ्चय होता है।

"शरद्"—शरद्ऋतुमें बादल स्वच्छ हो जाता है। पृथ्वी शुष्क होती है; धूप पड़ने लगती है; सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें कीचड़को सुखा देती हैं; इन बाह्य कारणोंसे वर्षाऋतुमें सञ्चित हुआ पित्त कुपित होकर अनेक रोग पैदा करता है और वायु स्वयमेव शान्त हो जाता है।

"हेमन्त"—वर्षाऋतुकी उत्पन्न हुई चीज़ें हेमन्तऋतुमें आकर परिपक्व वीर्यवाली होती हैं। जल स्वच्छ, चिकना और अत्यन्त भारी हो जाता है। सूर्य्यकी मन्द किरणोंके होनेसे हिमयुक्त वायु चलता है। इससे प्राणियोंके शरीरमें स्निग्धता, शीतलता, और गौरवके कारण दाहरहित वस्तुएँ कफका संचय करती हैं और पित्त स्वयमेव शान्त हो जाता है।

"वसन्त"—वसन्तऋतुमें शीत कम होनेसे सूर्य्यकी किरणोंमें फिर कुछ तीक्ष्णता आजाती है। इससे मनुष्योंके शरीरोंमें सञ्चित हुआ कफ तापित होकर जठराग्निको मन्द करता है और कुपित होकर अनेक रोगोंको उत्पन्न करता है।

दो प्रकारसे ऋतुक्रम

जिन देशोंमें वर्षा नहीं होती उन देशोंमें शिशिरऋतु न मानकर वर्षासे पूर्व प्रावृट्ऋतु मानी जाती है और जिन देशोंमें शीतकी अधिकता रहती है उन देशोंमें प्रावृट्ऋतु न मानकर हेमन्तके पीछे शिशिरऋतु मानी जाती है। प्रावृट्ऋतुयुक्त छः ऋतुओंमें वायुका कोप प्रावृट् और वर्षाऋतुमें और शिशिर-युक्त क्रमसे वर्षामें माना गया है। इसी प्रकार प्रावृट्-युक्त क्रम से कफका चय हेमन्तमें और शिशिर-युक्त क्रमसे शिशिरऋतुमें माना गया है। शिशिर-युक्त ऋतुक्रममें चैत्र वैशाखसे लेकर दो दो महीने और प्रावृट्-युक्त ऋतुक्रममें फागुन चैत्रसे लेकर दो दो महीनेकी वसन्त आदि छः ऋतु मानी जाती हैं।

आयुर्वेदीय किसी किसी ग्रन्थमें अगहन, पौष माघ, आषाढ़, श्रावण, भादों, इन छः महीनोंमें वायुका राज्य और क्वांर, कार्तिक, वैशाख, ज्येष्ठ, इन चार महीनोंमें पित्तका और

फाल्गुन, चैत्र, इन दो महीनोंमें कफका राज्य माना गया है। किसी समय मिथ्या आहार-विहारसे दोषोंका चय और प्रकोप शीघ्र भी हो जाता है।

प्रकोपका कारण।

वायु—बलवानके साथ लड़नेसे, मलमूत्र, क्षुधा आदिके वेगोंको रोकनेसे, स्त्री-संग करनेसे, चरपरा, कड़ुआ, कसैला रसोंको अधिक खानेसे रुक्ष, लघु और शीत वीर्य्यवाले पदार्थों-के अति भक्षण करनेसे, अत्यन्त कसरत करनेसे, शीतल जल-से स्नान करनेसे, वायु कुपित हो जाता है।

पित्त, क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास, जले हुए अन्न, मैथुन, चरपरा, खट्टा, लवण रसोंका अति सेवन, तीक्ष्ण, उष्ण, दाहकारक पदार्थोंका विशेष खाना, धूपमें चलना, अति मार्ग चलना और मद्य आदिका पीना पित्तकोपकारक है।

कफ—दिनमें सोनेसे, शारीरिक श्रमके न करनेसे, मीठा, खट्टा, नमकीन रसोंके अधिक खानेसे और शीतल, चिकने, भारी, गाढ़े गरिष्ठ, पदार्थोंके खानेसे और दूध, दही, तिल, खीर, खिचड़ी खानेसे कफ कुपित होता है।

प्रसर (स्थानान्तर गमन)।

जब वातादि दोषोंके सञ्चय प्रकोपकारक कारणोंका अधिक ज़ोर होता है, तब इनसे वर्द्धित और कुपित दोषोंका प्रसर होता है। जैसे बढ़े हुए जलका वेग अपने सेतु (पुल)को तोड़कर दूसरे जलमें मिलकर सर्वत्र फैल जाता है, इसी प्रकार अति संचित हुए दोष अपनी सीमाको उल्लंघन कर दूसरे दोषोंसे मिलकर फैल जाते हैं। कभी एक कभी दो कभी

तीन कभी रक्तसहित होकर अनेक रीतिसे स्थानान्तरमें गमन करते हैं।

भेद—प्रसरके १५ भेद हैं।

(१) वायुका, (२) पित्तका, (३) कफका, (४) रक्तका, (५) वातपित्त, (६) वातकफ, (७) पित्तकफ, (८) वातरक्त, (९) पित्तरक्त, (१०) कफरक्त, (११) वातपित्तरक्त, (१२) वातकफ रक्त, (१३) पित्तकफरक्त, (१४) वातपित्तकफ, (१५) वातपित्त-कफरक्त। दोष कुपित होकर जिसके स्थानमें पहुँचे उस स्थानके तुल्य चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे पित्तके स्थानमें प्राप्त हुए वायुकी चिकित्सा पित्तके अनुकूल करनी चाहिये। प्रकोप और प्रसरका भेद—जैसे औटते हुए घीमें पहले जो सञ्चालन क्रिया होती वह कोप और ज्यादा औटनेसे फेनका मण्डल बनकर पात्रके बाहर निकलनेको प्रसर कहें तो जैसे घड़ेमें सुराबीज, जल और मदिराके संधान भरनेसे कुछ दिन पश्चात् बबूले उठनेको कोप और उफान होकर बाहर निकलनेको प्रसर कह सकते हैं। इसी प्रकार दोषोंके प्रथम विकारको कोप और जब वह उफानकी भांति बढ़कर फैल निकले तब उसे प्रसर कहते हैं।

स्थान-संश्रय।

संचित हुए दोष, कोपकारक आहार-विहारोंसे कुपित होकर शरीरके जिन स्थानोंमें जाते हैं, वहां स्थानदोषानुकूल उसी उसी प्रकारकी व्याधिको उत्पन्न करते हैं। वैद्योंको रोगोंके ज्ञानकेलिये स्थान-संश्रयको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। बिना इसके जाने रोगोंका तत्वज्ञान समझमें नहीं आसकता। हम यहां पर दोषोंके स्थान-संश्रयके अनुसार प्रधान प्रधान रोगोंकी सम्प्राप्तिका वर्णन करेंगे।

ज्वर ।

निज और आगन्तुक भेदसे ज्वर दो प्रकारका है। अपने कोपकारक आहार-विहारसे दुष्ट हुए वातादि दोष आमाशयमें प्राप्त होकर वहां ऊष्मा (जठराग्निकी गरमी, या वाष्पसे) मिलकर पहले भोजन का बना हुआ जो रस धातु उसे दूषित कर देते हैं; पीछे रस और स्वेद को बहानेवाले स्रोतोंके मार्गोंको रोक कर और जठराग्निको मन्द करके उसकी गरमीको पाचकाशयसे बाहर त्वचा और रोगोंकी तरफ ले जाते हुए ज्वर उत्पन्न करते हैं। जो दोष बिगड़कर आमाशयमें प्राप्त हो ज्वर उत्पन्न करता है उसीके नामसे वह ज्वर कहाता है। जैसे वातज्वर, पित्तज्वर आदि द्वन्द्वजमें दो दोष और सन्निपातमें तीनों दोष कुपित होते हैं। दुष्ट दोषोंके न्यूनाधिक सम्मिलनसे त्रिदोषज्वरके वातोल्वणादि १३ भेद शास्त्रोंमें वर्णन किये गये हैं।

आगन्तुक ।

आगन्तुक शब्दका अर्थ अनायास आया हुआ है। इस ज्वरमें अभिघात अभिशापादि कारणोंसे पहले दुःख उत्पन्न होता है उस व्यथासे बिगड़े हुए दोष पूर्वोक्त प्रकारसे आमाशयमें प्राप्त होकर ज्वर उत्पन्न करते हैं।

"अभिघात" ज्वरमें रक्त सहित वायु कुपित होता है।

"अभिशापज"-"अभिचारज"में तीनों दोष कुपित होते हैं।

"अभिषङ्गज"के भेद ग्रहवेशज, औषधिगन्धजन्य, विषजमें दोषत्रय, भयज, शोकज, कामजमें वायु और क्रोधजमें पित्त कुपित होता है।

विषमज्वर ।

आरम्भिक, अनारम्भिक भेद से विषमज्वर दो प्रकारका है। आरम्भिक विषममें सामान्य विपरीत आहार या ऋतु-विकारसे तीनों दोषोंमें कुछ बिगाड़ हो जाता है। वह विकार इतनी सूक्ष्म अवस्थामें रहा आता है कि जिससे किसी प्रबल हेतुसे उत्पन्न हुए रसादि धातु-विकारकी सहायता बिना कोई रोग उत्पन्न न हो सके। जब उसे प्रबल ऋतुदोष या मिथ्या आहारसे रसादि दूष्योंमें उत्पन्न हुए विकारकी सहायता मिल जाती है, तब वह सहसा वृद्धिको प्राप्त हो जाता है। वे बिगड़े दोष रस रक्तादि धातुओंमें टिककर वेगके समय आमाशयमें प्राप्त हो पूर्ववत् ज्वरको उत्पन्न करते हैं। बिगड़े हुए दोषोंके रसमें टिकनेसे सन्तत, रक्तमें टिकनेसे सतत, मांसमें टिकनेसे अन्येद्युः, मेदमें होनेसे तृतीयक, अस्थि और मज्जामें पहुँचने पर चातुर्थक ज्वरको उत्पन्न होता है।

दूसरे प्रकारका अनारम्भिक विषमज्वर उस समय आता है जब किसी पुरुषका ज्वर तो उग्रवीर्य्य औषधिसे चला जाय; किन्तु निर्बलता और दोषोंमें सूक्ष्म विकार बना रहे, फिर वह स्वल्पदोष मिथ्या आहार-विहारसे रसादि धातुओंमें अन्तर पड़ जाने पर वृद्धिको प्राप्त हो जावे फिर उन रसादि धातुओंसे मिलता हुआ कफके प्रधान स्थान जो आमाशय, उर, कंठ, शिर और सन्धि हैं वहां किसी स्थान पर टिककर वेगके समय आमाशयकी ओर आकर पूर्ववत् रससे मिलता हुआ क्रमशः सततादि ज्वरोंको उत्पन्न करे।

आमाशयमें स्थित दोष दिनमें दो बार वेग करता है (दोषमय दोषोंका कोपकाल होनेसे) इससे सतत हृदयस्थ

दोष रात्रि दिनमें आमाशयमें पहुँचता है इससे इकतरा, कण्ठस्थ दोष एक दिनमें हृदय दूसरे दिनमें आमाशयमें पहुंचनेसे एक दिन बीचमें देकर आनेवाला तिजारी-शिरोगत दोष एक दिनमें कण्ठ तक दूसरे दिनमें हृदय और तीसरे दिन आमाशय तक पहुंचनेसे दो दिन बीचमें देकर आनेवाला चौतारी और सन्धिगत दोष निरन्तर मन्दगतिसे आमाशयकी तरफ आते रहनेसे प्रलेपक ज्वर उत्पन्न करता है।

जीर्णज्वर।

जो ज्वर तीन सप्ताह पर्य्यन्त भी दूर न होवे—औषधि सेवन करनेसे या कुछ समयके व्यतीत होनेसे केवल उस ज्वरका बल कम हो जावे, तब उस ज्वरकी मन्द गरमी विकृत दोषोंके साथ रसादि धातुओंमें क्रमशः प्रवेश कर जाती है अर्थात् रससे रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे शुक्रमें पहुंचती है। तथा क्रमशः एकके पश्चात् दूसरी धातुको बिगाड़ती हुई उसको कम करती जाती है।

वात पित्त आदि प्रधान ज्वरोंमें ज्वरकी ऊष्मातिर्य्यग्गामी होकर केवल रस धातुको बिगाड़कर त्वचाकी तरफ आती है उसका सम्बन्ध रक्तादि धातुओंसे जीर्णज्वरकी भांति नहीं होता, जठराग्निकी शक्ति पाचकाशयसे बाहर आ जाने पर मन्द हो जानेसे, आहारको न पचाकर रस धातुको उत्पन्न नहीं करती, जिससे रक्तादि धातुओंमें रहनेवाली धात्वग्नि भी मन्द पड़ जाता है और धातु निरन्तर क्षीण होते जाते हैं। जिससे रोगी निर्बल हो जाता है। जब दोष पच जाते हैं, जठराग्नि ठीक स्थानपर पहुंच जाता है तब क्षुधा लगने

लगती है। आहारके पचनेसे रक्तादि धातुओंकी वृद्धि होने लगती है, जिससे रोगी पुनः बलवान होता है।

जीर्णज्वरमें उसकी गरमी रसादि धातुओंको शनैः शनैः सुखाती जाती है। इससे रोगी धीरे धीरे निर्बल होता जाता है। ज्यों ज्यों वह गर्मी धातुओंमें प्रवेश करती है ऊपरी त्वचामें आनेवाली गर्मी कम बढ़ती है जिससे बाहर अधिक सन्ताप मालूम नहीं पड़ता। किसी समय वह गर्मी आमाशयमें आकर त्वचाकी ओर आती भी है, किन्तु थोड़ी देर रह कर फिर धातुओंमें पहुंच जाती है।

विषमज्वरमें जो दोषोंका सम्बन्ध रसादि धातुओंसे होता है वह भी भिन्न प्रकारका है। जीर्णज्वरमें दोष रसादि धातुओंको उत्तरोत्तर क्षीण करते हैं और विषमज्वरमें दोष एकदम किसी धातुमें पहुंचकर वहां ठहर जाते हैं और वेगके समय आमाशयकी तरफ आते रहते हैं। उनकी गति, रससे रक्त, रक्तसे मांस इत्यादि प्रकारसे धातुओंमें प्रवेश नहीं करती। इससे रसादि धातु जीर्णज्वरके समान न उतने बिगड़ते और न क्षीण होते हैं।

अतीसार।

जब शरीरके बिगड़े हुए द्रव, (पतले) धातु, पित्त, कफ, मूत्र, स्वेद, जल, रस, रक्त, मेद आदि वृद्धिको प्राप्त होकर और अग्निको मन्द करके पक्वाशयमें विष्ठासे मिले हुए अपानवायु द्वारा बार बार नीचे निकाले जाते हैं तब उस अवस्थाको अतीसार कहते हैं।

यह मत महर्षि धन्वन्तरिका है; इसमें अग्निको मन्द करनेवाले जल धातु माने गये हैं। किन्तु चरक संहितामें

अग्निको मन्द करनेवाले वातादि दोष कहे गये हैं। वातातिसारमें जब वायु कुपित होता है तब अग्नि नष्ट (मन्द) हो जाता है। अग्निके मन्द होने पर दुष्ट हुआ वायु पक्वाशयमें स्वेद मूत्रको ले जाकर विष्ठाको पतला करके अतीसारको पैदा करता है। पित्तातिसार में दुष्ट और बढ़ा हुआ पित्तद्रव गुण वाला होनेसे अग्निको मन्द कर पीछे पक्वाशयमें प्राप्त होकर अपने (द्रवउष्णाभर) गुणोंसे मलको पतला करके अतीसारको उत्पन्न करता है। वाग्भट अतीसारकी सम्प्राप्तिमें कहते हैं कि दुष्ट हुआ वायु, जल धातुको नीचे निकालकर उसके द्वारा अग्निको मन्द करके पक्वाशयमें मलको द्रव करके अतिसारको उत्पन्न करता है।

इन तीनों मतोंके देखनेसे ज्ञात होता है कि अतिसार रोगमें पहिले समान वायु दुष्ट होता है और वह अपने नियमित कार्य्यको त्याग कर जलधातुको अग्न्याशय और पक्वाशयकी ओर बहाता है। वातातिसारमें वह वायु अधिक बिगड़कर अपानवायुके कार्य्यमें बाधा डालता है। पित्तातिसारमें उन द्रव धातुओंमें पित्त अधिक होता है; और वायु केवल द्रव धातुओंके बहानेका ही कार्य्य करता है। इससे द्रव धातुओंमें पित्तके गुण अधिक होते हैं। इसी तरह कफातिसारमें, द्रव धातुओंमें कफ तथा कफके गुणोंकी अधिकता रहती है। शोकातिसारमें शोक करनेसे नेत्र, नासिका, गला आदिसे भीतरकी ओर निकला हुआ जल शोकजन्य ऊष्मासे उष्ण होकर बिगड़े हुए वायु द्वारा कोष्ठमें पहुंचता है। वह जल अग्निको बिगाड़कर उदरस्थ रक्तको क्षुभित करके पक्वाशयमें मलको द्रव करता है। और आमातिसारमें जब आम नहीं पचती और बढ़ जाती है तब उसके बढ़नेसे वातादि

दोषोंके नियत मार्ग रुक जाते हैं। इससे वे क्षुभित होकर कोष्ठको बिगाड़कर अधिकतासे उस आमको और रस रक्तादि धातुओंको अनेक बार नीचे निकालते हैं।

प्रवाहिका।

पक्वाशयमें बढ़ा हुआ समानवायु सञ्चित हुए कफ या पित्त या रक्तको विष्ठासे मिलाकर बार बार मरोड़के साथ निकाले उस अवस्थाको प्रवाहिका कहते हैं। अतिसारमें अनेक द्रव धातु निकलती हैं और प्रवाहिकामें केवल कफ या रक्तही निकलता है।

ग्रहणी।

आमाशय, और पक्वाशयके बीचमें पित्तधरावाली छठी कला है, उसे ग्रहणी कहते हैं। उसका काम अपक्व अन्नको धारण करना और परिपक्व मलका त्यागना है। ग्रहणीका बल अग्नि और अग्नि ग्रहणीके आश्रित है। जब वातादि दोष कुपित होकर अग्निको आच्छादित करते हैं; जब अग्निरूपी बलके बिगड़नेसे ग्रहणी भी बिगड़कर अपने कार्य्यको (अपक्व अन्नका धारण करना और पक्वका निकालना) ठीक ठीक नहीं करती; कभी अन्नको बिना पकायेही त्याग देती है; और कभी पक्वमलको नियत समयपर भी विसर्जन नहीं करती, उसे ग्रहणी रोग कहते हैं। जो दोष बिगड़ कर अग्निको ढक कर रोग उत्पन्न करे उसीके नामसे ग्रहणी रोग कहाता है। जैसे वात ग्रहणी, इत्यादि तीनों दोषोंके बिगड़ने पर उत्पन्न होनेवाली त्रिदोष ग्रहणी कहाती है।

अर्श।

अग्निको मन्द करने वाले कारणोंसे जब जठराग्नि मन्द

हो जाता है तब आहारका सार भाग कम निकलनेसे मलकी अत्यन्त वृद्धि होती है। उस समय यदि अपानवायु कुपित हो जावे तो वह मलके साथ गुदवलिमें प्राप्त हो तत्रस्थ अन्य दो दोषोंको भी बिगाड़ देता है। फिर ये तीनों दोष वहांके त्वचा, मांस, मेद, और रक्तको दूषित करके गुदामें मांसाङ्कुर उत्पन्न करते हैं। मस्सोंके पैदा होने पर जब अपानवायुकी गति रुकने लगती है तब वह ऊर्ध्व मार्गको प्राप्त हो शेष चार प्रकारके वातोंको तथा पांचों प्रकारके पित्त और कफोंको कुपित करता है। इससे गुदामें मस्सा होनेपर तीनों दोषोंमें विकार होता है। जो दोष अधिक बिगड़ा होता है उसके ही नामसे वह अर्श कहाता है।

अग्नि सम्बन्धी रोग।

"मन्दाग्नि"—अग्न्याशयमें कफकी अधिकतासे,

"विषमाग्नि"—अग्न्याशयमें वायुकी अधिकतासे,

"तीक्ष्णाग्नि"—अग्न्याशयमें पित्तकी विशेषतासे होता है,

भस्मक—जब मनुष्योंका क्लेदन कफ क्षीण हो जावे और समान वायु तथा पाचक पित्त बढ़ जावे तब पित्तके द्वारा बढ़ा हुआ और वायु करके प्रचण्ड बना हुआ अग्नि भोजनको शीघ्र पचा देता है; और आहार न मिलने पर रस, रक्त आदि धातुओंको सुखाता है उस बढ़े हुए अग्निको भस्माग्नि कहते हैं।

अजीर्ण—आहारके सम्यक् न पचनेको अजीर्ण कहते हैं। कफ कृत जठराग्नि विकारसे आमाजीर्ण, (कच्चा भोजन रहना) पित्त कृत जठराग्नि विकारसे विदग्धाजीर्ण (जिसमें खाया हुआ भोजन जल जावे) और वायु कृत विकारसे

विष्टब्धाजीर्ण (मलका सूख जाना रुक जाना, कब्ज होना) उत्पन्न होता है।

कफ और वायुके विकारोंसे आमाशय और पक्वाशय निर्बल हो जाता है जिससे आहार रस पचनेसे शेष रह जाता है; अथवा यकृत प्लीहामें रहनेवाले रंजक पित्तमें निर्बल होनेसे आहार रसका नियत परिमाणसे कम रक्त बनकर शेष रस आमाशय या पक्वाशयकी तरफ वापिस आता है इसे रसशेषा-जीर्ण कहते हैं।

विशूचिका—जब अजीर्णसे समान वायु मिलकर रुक जावे (अपक्वमलसे रहित होकर न अधोवायुसे निकले और न ऊपरको डकारसे) और सुई चुभानेके समान पीड़ा करे; आमदोषको ऊपरकी ओर वमन द्वारा और नीचेको दस्तोंके द्वारा निकाले तब उसे विशूचिका कहते हैं।

अलसक—इस रोगमें मल सहित वायु विशूचिकाकी तरह ऊपर या नीचे न जाकर कुक्षिमें भर जाता है और उसे फुलाकर वहां पर शूल उत्पन्न करता है, कुक्षिसे कण्ठ आदि स्थानोंमें बार बार दौड़ता है मलमूत्रको नीचे नहीं निकलने देता।

विलम्बिका—कफ और वायुसे बिगड़ा हुआ भोजन (बिना पचा) जब ऊपर और नीचेको न जावे उसे विलम्बिका कहते हैं।

पाण्डु-कामला।

जब मनुष्योंके हृदयमें (कुपित करने वाले कारणोंसे) साधक पित्त बढ़ जाता है, तब हृदयमें रहने वाला बलवान् वायु उसे हृदयसे फेंकता है। वायु द्वारा हटाया हुआ वह

पित्त दशों धमनियोंके द्वारा सम्पूर्ण शरीरके त्वचा और मांस-के बीचमें व्याप्त हो जाता है; त्वचा और मांसमें व्याप्त हुआ पित्त त्वचा और मांसको बिगाड़ कर उसका कुछ भाग धातुओंमें कुपित हुए वायुके साथ या स्वयं होकरके या दूषित कफके साथ, या स्वयं अधिक कुपित हुआ, शेष कुपित दो दोषोंके साथ, रक्त स्थानमें (यकृत प्लीहामें) पहुँच कर उनकी शक्तिको कम कर देता है। इससे शुद्ध रक्त परिणामानुकूल नहीं बनता। किट्टभाग विशेष बननेसे तिल्ली तथा ज़िगर भी कुछ बढ़ जाते हैं। रुधिरके शुद्ध न बननेसे तथा त्वचा और मांसके बीचमें पित्तके व्याप्त हो जानेसे त्वचा पाण्डु, हरित, हरिद्र आदि वर्णकी हो जाती हैं। यदि केवल पित्त ही विशेष कुपित हो, इतर दोष न मिले हों तो **पित्त पाण्डु** (इतर दोषासंश्लिष्ट प्रबल पित्त जन्यत्वेन पैत्तिकाभिधानम् यथा पैत्तिक रक्त पित्तम्) और यदि अधिक कुपित हुआ वायु या कफ, या दोनों दोषोंसे मिल जावे तो वातपाण्डु, कफपाण्डु, सन्निपातपाण्डु होते हैं।

कामला।

जब पाण्डु रोग वाला उष्ण पदार्थोंको अधिक सेवन करता है, तब उसका बिगड़ा हुआ पित्त, मांस और रुधिरको जलाकर (इसमें ज्यादा गरमी पैदा करके) त्वचा नख, मुख आदिको हल्दीके वर्णके सदृश कर देता है, तब उसे कामला कहते हैं।

रक्त पित्त।

जो मनुष्य अधिक समय तक उष्ण पदार्थों का सेवन

करता है उस पुरुका अहाररस दुष्ट हो जाता है (नित्यमभ्यस्यतो दुष्टो रसः पित्तञ्च कोपयेत्) अर्थात् उस रसमें गरमी विशेष होती है, पीछे वह उष्णरस (रंजक) पित्तको कुपित कर देता है। कुपित हुआ वह पित्त द्रव रक्तके साथ मिलकर (रक्तको साथ लेता हुआ और स्वयंलाल होता हुआ) यकृत और प्लीहाका आश्रय लेकर रहता है और बढ़ता है। वहांसे रुधिर–वाहिनी–शिराओं द्वारा आमाशयमें आकर और वहांसे ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हो मार्गमें कफको अनुगामी करता हुआ मुख नासिकादि मार्गोंसे निकलता है; और यकृत प्लीहासे यदि पक्वाशयमें आवे तो अधोमार्गसे वायुको अनुगामी करता हुआ गुदा, योनि, लिङ्गेन्द्रिय द्वारा निकलता है; और दोनों स्थानोंमें (पक्वाशय और आमाशयमें) प्राप्त हुआ उभयमार्गोंसे निकलता है। पित्तके साथ मिलने वाले रक्तसे, अपने दुष्ट करने वाले कारणोंसे दुष्ट हुए वातादिदोष मिलकर अपने वर्णादिक (कषाय, अरुण पाण्डु आदि) लक्षणोंको उत्पन्न करते हैं इससे ही रक्त पित्तके वातादि दोष भेद होते हैं।

अम्ल पित्त।

जब आमाशयमें पहलेसे इकट्ठा हुआ पित्त अपने कुपित करने वाले विशेष कारणोंसे विदग्ध होकर खट्टा होजावे और वह पित्त आमाशयस्थ बिगड़े हुए वायुको या कफको या दोनोंको साथ लेकर ऊर्ध्व या अधोमार्गसे निकले तब उसको अम्लपित्त कहते हैं।

कास (खांसी)।

जब हृदयस्थ प्राण वायु कुपित होकर कण्ठमें रहने वाले

उदान वायुसे मिल जावे तब उससे उत्पन्न विकारको कास कहते हैं।

हृदयमें 'अवलम्बन' कफ अधिकतासे रहता है। जब वहां पर रहने वाला वायु बिगड़ जाता है तब अपने साथ हृदयसे कफको भी कण्ठकी तरफ लेजाता है, किन्तु वायुकी अधिकतासे तथा वायुका रूक्ष गुण होनेसे वायुद्वारा आया हुआ थोड़ा कफ खुश्क हो जाता है। इससे उसके निकलनेके लिए बार बार खांसना पड़ता है। जब अपने कुपित करनेवाले कारणोंसे कफ भी कुपित होकर वायुके साथ अधिकतासे कण्ठकी तरफ आवे तब वह खांसनेसे बिना कष्ट निकलता है; क्योंकि कफ स्निग्ध है। पहली अवस्थाको वातका कास, और पिछलीको कफका कास कहते हैं। हृदयस्थ पित्तके कुपित होने पर जब प्राणवायु उदानवायुसे मिलता है तब उसे पित्तकास कहते हैं।

"क्षतज" अति स्त्री-संग, भारी बोझा उठाना, अधिक मार्ग चलना इत्यादि हेतुओंसे हृदयस्थ वायु कुपित होकर वहां पर खुश्की और कड़ापन पैदा कर देता है। ऐसे मनुष्यको सूखी खांसी आती है। पीछे वह वायु फेफड़ोंमें घाव कर देता है तब उन घावोंसे खखारके साथ रुधिर आने लगता है। इसे क्षतज कास कहते हैं।

"क्षयज"—जब तीनों दोष कुपित होकर रसादि धातुओंका क्षय करें उस समय प्राण वायुके उदान वायुसे मिलने पर उत्पन्न हुई कासको क्षयज कास कहते हैं।

श्वास (दमा)।

जब प्राण वायु कुपित होकर श्वास बहानेवाली नाड़ियोंमें

रूक्षता करके खरखराहट करदे या उन्हें सिकोड़ दें या चौड़ी करदें या उनमें कफको लेजाकर भरदें तब श्वास नलिकाके बिगड़ जानेसे वायुकी गति रुककर प्रतिलोम हो जाती है, उस श्वासकी विरुद्ध गतिको श्वासरोग कहते हैं।

स्वरभेद।

जब कुपित हुए वातादि दोष शब्दवाहिनी धमनियोंमें भरकर स्वरको खराब करदे तब उसे स्वरभेद कहते हैं।

हिक्का।

जब कफ-युक्त समान और उदान वायु दूषित होकर प्राण अन्न और जलके बहानेवाले स्रोतोंको रोककर प्लीहा, यकृत और आंतोंके मुख द्वारोंको हिलाते हुए तथा शब्द करते हुए कण्ठसे निकलें तब उसे हिक्का कहते हैं।

राजयक्ष्मा।

"अनुलोमक्षय" साहसादिक कर्मोंसे बढ़ा हुआ वायु, पित्त और कफको भी सब तरफसे बढ़ाकर शारीरिक सन्धियों-में प्रवेशकर उन सन्धियों और शिराओंको पीड़ित करता हुआ स्रोतोंके मुखोंको रोक यदि ऊपरकी तरफ गमन करे तो प्रति-श्याय आदि उत्पन्न होते हैं। अधोगति होनेसे मलको पतला या कड़ा कर देता है। तिरछा गमन करता हुआ पार्श्व-शूलादि उत्पन्न करता है। रसादि धातुओंके स्रोतोंके मार्गोंके रुक जानेसे वे रस, रक्तादि निरन्तर क्षयको प्राप्त होते हैं।

प्रतिलोमक्षय—अति मैथुनद्वारा शुक्रके अति क्षीण होने पर भी जब मनुष्य मैथुन करता है तब उसका वीर्य्य न निकर उसके बदले कुपित हुआ वायुद्वारा रुधिरवाहिनी

धमनियोंसे रुधिर निकलता है। वीर्य्यके क्षय होनेसे और रुधिरके निकलनेसे सन्धियां शिथिल हो जाती हैं और रूक्षता पैदा होती है। शरीर दुर्बल होने लगता है जिससे कुपित वायु, रुधिर और मांसको शुष्क करता है और पित्त कफको बिगाड़कर अपनी ऊर्ध्वादि तीनों गतिद्वारा अनुलोमक्षयवत् लक्षणोंको करता हुआ मेद आदि शेष धातुओंका भी क्षय करता है।

अरुचि।

वात, पित्त, कफ, यह पृथक् पृथक् या तीनों ही दुष्ट होकर भोजनके मार्गोंमें (जिह्वा, जिह्वामूल, आहारनल, तथा हृदयमें प्रगाढ़ता, गाढ़ापन, लुआब) उत्पन्न कर देते हैं, जिससे भोजन पर रुचि नहीं होती।

छर्दि।

विरुद्ध आहार करनेवाले मनुष्योंके आमाशयमें वृद्धिको प्राप्त हुए दोष तथा पक्व अपक्व आहारको जब व्यानसे मिला हुआ उदानवायु ऊपर लेजाकर मुख-मार्गसे निकाले उसे छर्दि कहते हैं।

दाह।

त्वचामें पित्तकी अधिक गरमी हो जानेसे सम्पूर्ण शरीरके रुधिरमें उद्रेक (उबाल, ताव) होनेसे या तृष्णाके रोकनेके कारण, जल धातुकी कमीसे अथवा किसी प्रकारकी चोट लगनेसे, उदरमें रक्त भर जानेसे या धातुओंके क्षय होनेसे, मद्य पीनेसे जो एक प्रकारकी गरमी और शीतल पदार्थोंकी इच्छा उत्पन्न होती है उसे दाह कहते हैं।

तृष्णा ।

जब बढ़े हुए वायु और कफ जलको बहानेवाले स्रोतोंको बिगाड़ देते हैं तब जल धातुके कम होनेपर जिह्वा, हृदय, गला तालु आदि स्थानोंमें खुश्की पैदा होती है तब मनुष्य जल पीनेकी इच्छा करता है, उसे तृषा कहते हैं। वातकी अधिकता-में वातकी और पित्तकी अधिकतामें पित्तकी तृषा कहाती है। जब बढ़े हुए कफ करके अग्नि ढक जाता है तब उस अग्निकी ऊपर जानेवाली भाफ रुककर अधोगामी जलके बहानेवाली नाड़ियोंको सुखाती है। इससे जल धातुके कम होनेसे जो तृषा हो वह कफकी तृषा कहाती है।

मूर्च्छा ।

इन्द्रियोंके बाह्य द्वारोंसे आभ्यन्तर चैतन्य तक इन्द्रिय विषयको लेजानेवाली नाड़ियोंसे जब वातादि दुष्ट दोषोंसे या तमोगुण विशिष्ट पदार्थोंके उपयोगसे सुख दुखके नाश करनेवाला तमोगुण प्राप्त हो जाय तब इन्द्रियां अपने विषयको ग्रहण नहीं करतीं और न चैतन्य तक पहुँचाती हैं उस अवस्थाको मूर्च्छा कहते हैं।

उन्माद ।

अल्प सतोगुणवाले पुरुषके बढ़े हुए वातादि दोष मार्ग भ्रष्ट होकर बुद्धिके रहनेका स्थान जो हृदय है उसमें प्राप्त होकर मनको बहानेवाली नाड़ियोंमें प्रवेशकर मनोविकार उत्पन्न करें उस मानसिक व्याधिको उन्माद कहते हैं।

अपस्मार ।

यदि संज्ञाको बहानेवाली नाड़ियोंमें कुपित हुए वातादि

दोष, रजोगुण और तमोगुण-युक्त प्राप्त होकर मनुष्यको स्मृति रहित करें और मूर्च्छायुक्त शरीरमें अङ्ग विक्षेपादि विकार उत्पन्न होवें तो उसे अपस्मार कहते हैं।

वातव्याधि ।

कुपित हुआ वायु स्थान भेद तथा संसर्ग भेदसे अनेक प्रकारके रोगोंको उत्पन्न करता है। उनमेंसे ८० प्रकारके रोग जो आयुर्वेदीय शास्त्रोंमें वर्णन किये गये हैं, वात-व्याधि नामसे व्यवहारमें लाये जाते हैं। इसी प्रकार पित्तसे उत्पन्न हुए चालीस रोग पित्तव्याधि और कफोत्पन्न बीस विकार कफव्याधिके नामसे बोले जाते हैं।

वातरक्त ।

जब कुपित हुआ दुष्ट रुधिर वायुके मार्गको रोक लेता है तब मार्ग रुक जानेसे वायु बिगड़ कर उस रक्तको और भी दूषित करता है। बिगड़े हुए वायु और रक्त दोनों मिल कर वातरक्त कहाते हैं। वायु द्वारा बिगड़े हुए रुधिरमें जिस कुपित दोषकी अधिकता हो उसे उसी दोषका वातरक्त कहते हैं।

उरूस्तम्भ ।

कोष्ठमें सञ्चित हुआ मेद युक्त आम (आहार रस) वातादि दोषोंको रोक करभारी होनेसे नीचेकी तरफ जानेवाली शिराओं द्वारा शीघ्र उरुओंमें पहुँचता है; वहां पर अधिकतासे रहनेवाला कफ मेदसे मिलकर क्षुभित हो वात, पित्तको दबाकर अपने स्थिर और शीतल गुणोंसे उरुओंको स्तम्भित (जकड़) कर देता है उसे उरुस्तम्भ कहते हैं।

आमवात ।

वायु करके प्रेरित हुआ आम, कफके आमाशय और सन्धि आदि स्थानोंमें प्राप्त हो जाता है (आम, पित्तके स्थानोंमें प्राप्त होकर पका करता है और कफके स्थानोंमें जाकर परिपक्व नहीं होता) यह आम धमनियोंसे विचरता हुआ वात, पित्त और कफके द्वारा अत्यन्त दूषित होकर रसको लेजानेवाली शिराओंको रोककर स्रोतोंको भारी कर देता है और वायु करके दूषित हुआ आम जिस जिस जगह प्राप्त होता है वहीं शूलादि उपद्रवोंको करता है ।

शूल ।

शूल रोग उस समय होता है जबकि बिगड़े हुए दोष बढ़ जावें और उनकी गति रुक जावे । गति रुकनेसे बिगड़े हुए दोषोंका वेग शिराओंमें खिचाव और तनाव उत्पन्न करता है; और इस प्रकारके दुःखको ही शूल रोग कहते हैं। सामान्यतासे दो प्रकारका शूल है "दोषज और आमज" । दोषज शूलमें प्रायः दोष अधिक बिगड़ते हैं और आमज शूलमें पहले आहार रस दुष्ट होकर पीछे बिगड़े हुए दोषोंसे सम्बन्ध होता है । "वायुका शूल" (इस शूलमें रहनेवाला वायु, कफ और पित्तसे रोका जाता है और वहां रहनेवाला रस उसको बढ़ाता है; तब गतिका अवरोध होनेसे शूल होता है) । पार्श्वोंमें (पसवाड़ोंमें कफ बढ़कर वायुकी गति रोकता है। त्रिकस्थान पीठ और वस्तिमें होता है । "पित्तका शूल" नाभिमें और कफका शूल आमाशयमें होता है। पीछे दोषोंके कुपित होने पर वायुका आमशूल वस्तिमें, पित्तका नाभिमें, कफका हृदय पसवाड़े और कुक्षिमें, त्रिदोषका सर्वस्थानोंमें होता है ।

उदावर्त ।

वेगोंके रोकनेसे अपने मार्गसे न निकला हुआ वायु जब चक्करसा बांधकर ऊपरको (अपने मार्गसे विपरीत) उठता हुआ जिस रोगको उत्पन्न करता है उसे उदावर्त कहते हैं।

गुल्म ।

उदरमें कुपित हुआ वायु, कफ और पित्तको बिगाड़कर तथा उनके बहनेके मार्गोंको रोककर "पार्श्वद्वय" हृदय, नाभि, वस्ति, इनमेंसे किसी स्थानमें कफ और पित्तसे मिली हुई बुद्बुद (जलका बबूला) की भांति उठाता है। रक्त-गुल्ममें—जोकि स्त्रियोंको होता है—आर्तवरूप या प्रसूताव-शिष्ट रुधिर वायुद्वारा रुककर पिण्डाकार हो जाता है। प्रत्येक प्रकारके गुल्ममें वायु तो रहता ही है। यदि वायु अति अधिक हो तो वातज, शेष दोषोंकी अधिकतासे पित्तज और कफज, सर्व दोषोंकी अधिकतासे सन्निपातज गुल्म कहाते हैं।

हृदय रोग ।

जब वातादि दोष रसको दूषित करके और स्वयं बिगड़े हुए उसमें मिल हृदयमें पहुँचते हैं तब हृदय रोग उत्पन्न होता है।

मूत्रकृच्छ्र ।

जब वस्ति स्थानमें वातादि दोषोंके कुपित होजानेसे अथवा मूत्र लानेवाले स्रोतोंमें शल्य (कांटा तीर आदि) लग जानेसे या मलावरोध होने पर विगुण वायु हो जानेसे या मूत्र मार्गमें दुष्ट वीर्यके गमन करनेसे या पथरीके होनेसे मूत्र कष्ट-से उतरता है तब उसे मूत्रकृच्छ्र कहते हैं।

अश्मरी ।

जब कुपित हुआ कफ मूत्रके साथ आकर मूत्राशयमें जम जावे और विकृत वायु उसे शुष्क करके पथरी बनावे अथवा मैथुनके रोकनेसे या अति मैथुनसे च्युत हुआ वीर्य वायु द्वारा इकट्ठा और कठिन होकर लिङ्ग और अण्ड कोशोंके मध्यमें वस्ति द्वार पर अटक जावे उसे अश्मरी कहते हैं। पित्ता-श्मरीमें कफके साथ अधिकतासे मिला हुआ पित्त, और वाताश्मरीमें वायु रहता है। यदि वायु पथरीको इतना शुष्क कर दे कि उसके टुकड़े टुकड़े हो जावें तब उसे शर्करा कहते हैं।

प्रमेह ।

प्रमेह रोग बीस प्रकारका है। इस रोगमें तीनों दोष और दसों दूष्य (१ रस, २ रक्त, ३ मांस, ४ मेद, ५ मज्जा, ६ शुक्र, ७ शरीरका क्लेद, ८ लसीका (त्वचा और मांसमें रहनेवाला चिपचिपा जल विशेष), ९ ओज, १० वसा) बिगड़ जाते हैं (सर्वमेहानामेवदोषत्रयजन्यत्वं सकलदूष्याश्रयत्वं च यथाह सुश्रुतः वातपित्तमेदोभिरन्वितः श्लेष्मा कफमेहान् जनयति) इन तीनों दोषोंमें जो प्रधान होकर रहता है उसी दोषका प्रमेह कहाता है। इन दसों दूष्योंमें मेद, मांस और शारीरिक क्लेद प्रत्येक प्रकारके प्रमेहमें अधिकतासे बिगड़ते हैं। कफके प्रमेहोंमें इन तीनों दूष्योंके साथ रस, पित्तके प्रमेहोंमें रक्त और वायुके प्रमेहोंमें वसा, मज्जा, ओज, लसीका भी अधिक बिगड़े रहते हैं।

क्रियाक्रम—प्रमेह उत्पन्न करनेवाले कारणोंमें कफ-कारक कारणोंकी अधिकता रहनेसे तथा रस बिगड़ने पर अन्य दोषोंकी भांति शरीरमें अधिक बढ़ा हुआ कफ अन्य

दोषोंको अप्रधानतासे साथ ले मेद, मांस और शारीरक क्लेदसे उत्तरोत्तर मिलता है और उन्हें बिगाड़ता है। पीछे शारीरक क्लेदको मूत्र बनाकर तथा उसमें उपर्युक्त अन्य विकृतोंके साथ मिला हुआ मूत्रवाहिनी नाड़ियोंसे वस्तिस्थानमें प्राप्त होता है। इसी प्रकार पित्तप्रधान होकर उपर्युक्त क्रियाक्रमसे वस्तिस्थानमें प्राप्त हो पित्त प्रमेहोंको करता है। वातके प्रमेहमें वायु पूर्वोक्त प्रकारसे मेद, मांस आदिको बिगाड़ती हुई मूत्र बहानेवाली नाड़ियोंद्वारा मूत्रके साथ वसा, मज्जा, लसीका, ओज, इनमेंसे किसीको बिगाड़कर साथ लाती हुई वस्तिस्थानमें स्थित होकर वातप्रमेहोंको उत्पन्न करती है।

प्रकार भेद—कफके दस गुण हैं—श्वेत, शीत, मूर्त (बन्धा हुआ कठिन), पिच्छिल (चिपचिपा), अच्छ (साफ), स्निग्ध, गुरु (भारी), मधुर, सान्द्र (गाढ़ा), प्रसाद, ये दस गुण हैं। इन गुणोंके निम्नलिखित उत्कर्ष भेदसे कफप्रमेहके साथ दस भेद किये गये हैं।

नाम	गुणोत्कर्ष	नाम	गुणोत्कर्ष
उदक	श्वेत, अच्छ, शीत	शुक्र	श्वेत, स्निग्ध
इक्षु	मधुर, शीत	सिकता	सान्द्र, मूर्त
सान्द्र	सान्द्र, पिच्छिल	शीत	गुरु, मधुर, शीत
सुरामेह	पित्तानुरागि, अच्छ	शनैः	मन्द, मूर्त
पिष्ट	श्वेत	लाला	पिच्छिल

पित्तके क्षार, नील, कृष्ण, पीत, लोहित, मिश्र इन छः गुणोंकी अधिकतामें क्रमशः क्षार, नील, कृष्ण, हारिद्र, माजिष्ठ और रक्त यह छः पित्त प्रमेह होते हैं।

वात प्रमेहके मूत्रमें वसा, मज्जा, ओज, लसीका इनकी अधिकतासे क्रमशः वसा, मज्जा, क्षौद्र और हरित ये चार वात प्रमेह होते हैं।

मेदोरोग।

जब कफ कारक आहारका अधिक समय सेवन करने, दिनमें सोने तथा परिश्रम न करनेसे अन्नका रस अत्यन्त मधुर बनकर अपने स्निग्ध गुणसे उदरमें मेदको अत्यन्त बढ़ाता है—मेदके अधिक बढ़नेसे मेदके तथा वायुके विचरनेका मार्ग रुधने लगता है; इससे केवल मेदके ही बढ़ते रहनेसे अन्य धातु पुष्ट नहीं होती तथा रुका हुआ वायु अग्निको तेज कर उसके द्वारा आहारको जल्दी पचाता है तब इससे उदर स्थूल हो जाता है और अशक्तता आदि उपद्रव होते हैं तब उसे मेद रोग कहते हैं।

उदररोग।

वातादि दोष, स्वेद और जलको बहाने वाली नाड़ियोंके मार्गोंको रोक कर और वहां स्वयं बढ़कर प्राणवायु, अग्नि और अपान वायुको बिगाड़ देते हैं, पीछे आमाशयसे टपका हुआ (कोरे घटसे जैसे स्नेह बाहरकी तरफ आता है) आहार, रस वायु करके प्रेरित हुआ बाहरकी त्वचाको मुलायम करके और धीरे धीरे वृद्धिको प्राप्त हुआ उदर रोगको उत्पन्न करता है। वातादि दोषोंसे १ वात २ पित्त ३ कफ़ और ४ सन्निपात-का उदर रोग उत्पन्न होता है। यकृद्दाल्युदर और प्लीहोदरमें

रुधिर और कफ दुष्ट होकर और बढ़कर यकृत और प्लीहाको बढ़ाते हैं। बद्धगुदोदरमें लुआबदार गाढ़े अन्न या भोजनके साथ पत्थरकी कंकड़ी या बालू रेतके चले जानेसे आंतका मुख रुक जाता है और नलीमें उपर्य्युक्त पत्थर कंकड़ आदि या दोषोंसे सञ्चित मल इकट्ठा होकर गुदा द्वारको रोक देता है जिससे गुदासे कठिनतासे थोड़ा थोड़ा मल निकलता है। रुका हुआ मल ऊपर जाकर हृदय और नाभिके बीचमें इकट्ठा हो कर उदरको बढ़ाता है। **क्षतोदर**—आंतोमें घाव हो जानेसे तथा आंतोंके फट जानेसे अपक्करस निकल कर नाभिके नीचेके भागको बढ़ाता है—**जलोदरमें** जल वाही स्रोत बिगड़ जाते हैं उनसे जल झरकर नाभिके चारों ओर नसोंमें भर जाता है और उदरको बढ़ाता है।

शोथ।

दुष्ट हुआ वायु बिगड़े हुए पित्त, कफ, रक्तको ऊपरकी नसोंमें लाकर और स्वयं इन बढ़े हुए और दुष्ट पित्तादिकोंसे रुद्धगति होकर त्वचा और मांसको बाहरकी तरफ उठाता है। सब प्रकारके शोथ रक्त सहित तीनों दोषोंके मिलापसे उत्पन्न होते हैं। कारण भेद और रूप भेदसे उसके नौ भेद किये हैं। आमाशयमें बिगड़े हुए दोष शरीरके ऊपरी भागमें जाकर और पक्वाशयमें बिगड़े दोष मध्य भागमें और मलाशयमें बिगड़े दोष नीचेकी तरफ शोथ उत्पन्न करते हैं।

अण्ड वृद्धि।

वस्ति स्थानमें दुष्ट हुए और बढ़े हुए वात, पित्त, कफ, रुधिर, मेद इनमेंसे कोई एक अण्डकोशवाहिनी धमनियोंमें

प्राप्त होकर अण्डकोशको बढ़ाता और फुलाता है; जिसे अण्ड-वृद्धि कहते हैं।

जो दोष या धातु अण्डकोशमें प्राप्त हो उसे बढ़ावे उसी-के नामसे अण्डवृद्धि कहाती है। मूत्रज और अन्त्रज अण्डवृद्धि जो शास्त्रोंमें वर्णित है, उसमें भी वृद्धिका निमित्त वायुही है—केवल उत्पत्तिका हेतु अन्त्रज वृद्धिमें भार ढोना और मूत्रज वृद्धिमें मूत्रादि वेगोंको रोकना यह विशेष होनेसे उनको पृथक् लिख दिया है।

ग्रन्थि, अर्वुद, अपची, गलगंडादि।

"ग्रन्थि"—जिस स्थानके वात, पित्त, कफ दुष्ट होकर मांस, रुधिर और कफ मिश्रित मेदको बिगाड़ कर और उनको बढ़ाकर गोल उठी हुई गांठको उत्पन्न करे उसे ग्रन्थि कहते हैं। ग्रन्थि रोग पांच प्रकारका है। तीन प्रकारकी प्रथक् प्रथक् दोषोंसे; चौथी मेदसे (जिस ग्रन्थिमें मेदकी अधिकता हो अथवा भोजके मतसे जब वायु दुष्ट हुए मेदको मांस या त्वचामें ले आवे उस समय ग्रन्थि उत्पन्न हो), पांचवी शिराज ग्रन्थि शिराओंमें रहने वाला वायु दुष्ट होकर शिराओंके जल-को दबा कर या सकोड़ कर या सुखाकर उनकी ऊंची फैली हुई गांठ बना देती है।

अपची—जब केवल कफ और मेदही बिगड़कर ठोड़ी, अस्थि, कांख आदि स्थानोंमें गांठ को (जिसके आस पास और भी गांठें हों) उत्पन्न करे तब उसे अपची कहते हैं।

अर्वुद।

सब प्रकारके अर्वुदमें सामान्यतासे मांस और रुधिर

रहता है उस उठे हुए मांसको दूषित करने वाला जो दुष्ट दोष हो उसके ही गुणों सहित उस नाम वाला अर्बुद कहाता है। रक्तार्बुदमें बिगड़ा हुआ पित्त, रुधिरको बिगाड़ कर और शिराओंको सकोड़कर या दबाकर मांस-पिण्डको उठाता है। इस अर्बुदमें मांसके साथ साथ बिगड़े हुए रक्त की अधिकता रहती है तथा रक्त का स्राव होता है। इस प्रकार मेदसे रक्त को पृथक् किया है। रक्तके समान यदि मांसके साथ मेद भी बढ़ा हुआ हो तो मेदोर्बुद और यदि मुष्टिप्रहार आदि कारणोंसे किसी स्थानमें केवल मांस इकट्ठा हो जावे या मांस भक्षण करनेसे मांस बढ़ जावे और वह वायु द्वारा पाषाणवत् कड़ा होकर उठे उसे मांसार्बुद कहते हैं।

गलगण्ड।

गलेमें दुष्ट वायु या कफ, मेदको इकट्ठा करके जो फोड़ा उत्पन्न करे वह वातका और कफका गलगण्ड कहाता है। मेदोज गलगण्डमें दुष्ट मेदकी अधिकता रहती है।

गण्डमाला।

जब दुष्ट हुआ कफ मेदको दूषित करके गलेमें बाहरकी ओर छोटे छोटे गण्ड उत्पन्न करे उसे गण्डमाला कहते हैं।

श्लीपद।

जब कफ का अनुबन्ध करते हुए वात पित्त या कफ दुष्ट होकर वंक्षण जानु जङ्घामें स्थित हो जावें और वहां से अवसर पाकर पिण्डलियोंमें आकर धीरे धीरे शोथ उत्पन्न करें उसे श्लीपद कहते हैं।

विद्रधि ।

अस्थिमें प्राप्त हुए वातादि दोष त्वचा, रक्त, मांस, मेद इन्हे दूषित कर शनैः शनैः ऊंची सूजन उत्पन्न करते हैं, फिर वह रक्त मांस और मेद का समूह अतिशूल युक्त गोला होजावे या फैल जावे उसे विद्रधि कहते हैं।

भगन्दर ।

गुदाके दो अंगुल आस पास दुष्ट हुआ वायु स्थित होकर अथवा अपान वायु द्वारा दुष्ट पित्त या कफ उक्त स्थानमें आकर अथवा दुष्ट वायु द्वारा दोनों दोष आकर, रक्त और मांस को दूषित कर पिडिका उत्पन्न करें उन्हें क्रमसे शत पोनक १ उष्ट्र ग्रीव २ परिश्रावी ३ शंबूकार्त ४ (सन्निपातज) नामसे उच्चारण करते हैं पांचवा उन्मार्गी नामक भगन्दर आगन्तुक है। जब कोई पुरुष भोजनके साथ हड्डी खाजावे और वह बन्धे हुए मलके साथ अपान वायु द्वारा आड़ी होकर गुदासे निकले। उस हड्डी निकलने के समय यदि गुदामें घाव होजावे अथवा मस्से काटनेसे या अन्य प्रकारसे क्षत होवे- और वह पके फूटे या उनमें कृमि पड़ जावें उसे आगन्तुक या उन्मार्गी भगन्दर कहते हैं।

उपदंश ।

जब उपदंशोत्पादक कारण विशेषसे वातादि दोष प्रथक् प्रथक् या मिले हुए बिगड़ कर लिङ्गस्थानमें प्राप्त हो वहां की त्वचा और रक्त को दूषित कर शोथ घाव या फुंसी उत्पन्न करें तब वे वातादि उपदंश कहाते हैं। रक्तज उपदंशमें पित्तके द्वारा रक्त अधिक बिगड़ता है।

कुष्ठ ।

कुष्ठको उत्पन्न करने वाले कारणोंसे कुपित हुए वातादि दोष तिर्यग्गामिनी शिराओंमें प्राप्त हो त्वचा, लसीका, रक्त, मांसको दूषित कर (दूषित होने पर इनमें बहुत सूक्ष्म कृमि हो जाते हैं) बाहरकी तरफ निकसते हुए कुष्ठ रोग उत्पन्न करते हैं। जहां जहां प्राप्त हुआ दोष बाहर निकल प्रकट होता है वहां वहां ही त्वचामें मण्डल पैदा होते हैं। दोषके त्वचामें आने पर यदि योग्य चिकित्सा न की जावे तो रोगोत्पादक दोष, तथा सूक्ष्म कीट रक्तादि धातुओंको बिगाड़ कर भीतर-की ओर प्रवेश करते हैं। प्रत्येक प्रकारके कुष्ठमें तीनों दोष तथा सूक्ष्म कृमि अवश्य रहती हैं। शास्त्रोंमें १८ प्रकारके कुष्ठ वर्णन किये गये हैं। उनमें सात महाकुष्ठ और ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ हैं। तीनों दोषोंमें वात, पित्त, कफकी प्रबलतासे क्रमशः कपाल औदुम्बर और मण्डल कुष्ठ होते हैं। ऋष्यजिह्व वात पित्ताधिक्य पुण्डरीक कफ पित्ताधिक्य, सिध्म वात कफाधिक्य, काकणक त्रिदोषाधिक्य होता है। इन सात कुष्ठोंमें दोष और दूष्य बहुत अधिक बिगड़ते हैं तथा कुष्ठोत्पादक कृमि धातुओं-में प्रवेश कर जाती हैं। क्षुद्र कुष्ठोंमें दोष उतने नहीं बिगड़ते तथा सूक्ष्म कीट तथा दोष प्रायः त्वचामें रहते हैं। इन ग्यारह कुष्ठोंमें कफकी अधिकतासे विचर्चिका और कफपित्तकी अधि-कतासे क्षुद्र, शतारु, विस्फोट, पामा, चर्म्म, और वातकफकी अधिकतासे चर्म्म दल, एककुष्ठ किटभ अलस, विपादिका, उत्पन्न होते हैं।

विसर्प ।

विसर्पको उत्पन्न करने वाले कारणोंसे कुपित हुए वातादि

दोष त्वचा, मांस, रुधिर और लसीकामें प्राप्त होकर औ
उन्हें बिगाड़कर शीघ्र देहमें फैल जाते हैं। भीतरकी ओर स्थि
दोष भीतरकी तरफ और बाहरकी ओर स्थित दोष बाहरव
तरफ और दोनों ओर दोष दोनों ओर फैलते हैं। चरक
अन्तः श्रितः वहिश्रित और उभयसंश्रित तीन भेद हैं। पृथ
पृथक् दोषोंसे तीन तथा दो दो दोषोंसे ३ और तीनों दोषों
एक इस प्रकार सात प्रकारका विसर्प होता है। विसर्प औ
कुष्टके समान हेतु होनेपरभी विसर्प और कुष्टमें यह भेद है वि
हर एक प्रकारका कुष्ट तीनों दोषोंसे और विसर्प पृथक पृथ
दोषोंसे भी होता है। विसर्पमें दोष रक्तके साथ मिलकर शीघ्र
फैल जाते हैं और कुष्टवत् भीतर प्रवेश नहीं करते।

व्यक्ति।

व्यक्ति प्रकट होनेको कहते हैं। दोष जब बिगड़ कर व्या
धिको उत्पन्न करते हैं उस व्याधिके स्पष्ट दर्शनको दोषोंकी
व्यक्ति कहते हैं। व्याधिके पूर्वरूपके समय व्याधिके स्पष्ट
लक्षण प्रतीत नहीं होते। शास्त्रोंमें जो रोगोंके रूप लिखे गये
हैं वे ही दोषोंकी व्यक्ति हैं, उन्हें हम लेख बढ़ जानेके भयसे
यहां नहीं लिखते।

भेद।

दोषोंके भेदोंको पहले दिखला चुके हैं। जैसे पांच प्रकार-
का वायु; प्राण अपनादि।

सञ्चयश्च प्रकोपश्च प्रसरं स्थान संश्रयम्।
व्यक्ति भेदश्च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद्भिषक्॥

परिशिष्ट।

दोषोंकी क्षय वृद्धि ।

जब दोष अपने परिमाणसे कम या ज्यादा होजावे तब ही उसे रोग कहते हैं "रोगस्तु दोष वैषम्यं दोष साम्यमरोगता" दोषोंका परिणाम कुछ ऐसा नियत नहीं है कि इतना वायु इतना पित्त आदि शरीरमें होना चाहिये किन्तु जितने दोषोंके रहनेसे शरीर स्वस्थ रहे वह ही दोषोंकी समान अवस्था है। दोषोंकी क्षयवृद्धिके सामान्य लक्षण ये हैं।

वायुके क्षयमें—अङ्गोंमें शिथिलता, अल्प भाषण, मन्द चेष्टा, अल्पहर्ष और मूढ़ संज्ञा होती है।

पित्तके क्षयमें स्वल्प गरमी, मन्दाग्नि और कान्ति नष्ट हो जाती है। कफके क्षयमें—रूक्षता, अन्तर्दाह कफके स्थानोंमें शून्यता, सन्धियोंमें शिथिलता, निर्बलता और निद्रानाश ये लक्षण होते हैं। वायुकी वृद्धिमें—त्वचामें कड़ाई शरीरका कृश होना, कालापन, अङ्गोंका फड़कना, गरम पदार्थोंकी इच्छा, निद्रानाश निर्बलता और मलकी कठोरता ये लक्षण होते हैं।

पित्तकी वृद्धिमें-पीला दिखाई देना, सन्ताप, शीतल आहार विहारोंकी इच्छा, थोड़ी निद्रा, मूर्च्छा, बल हानि, इन्द्रिय-दौर्बल्य, मलमूत्र, नेत्रोंमें पीलापन ये लक्षण होते हैं।

कफकी वृद्धिमें ।

सफेदी, शीतलता, शरीरका स्थिर और भारी रहना, आलस्य, तन्द्रा, नींदका ज्यादा आना, सन्धि और हड्डियोंमें शिथिलता आदि लक्षण होते हैं।

प्रकृति ।

गर्भ धारणके समय शुक्र शोणितके संयोगमें जिस दोषकी अधिकता हो उसी दोषकी प्रकृति वाला पुरुष होता है ।

वातकी प्रकृति वाले को नींद कम आती है । बाल और नाखून कड़े होते हैं । चंचल स्वभाव होता है जल्दी २ बोलता है । बुद्धि स्थिर नहीं होती । चंचल दृष्टि होती है, शरीर लटा दुबला रहता है ।

पित्तकी प्रकृति वालेके पसीना ज्यादा आता है, शरीरमें कुछ पिलाई होती है, क्रोध जल्दी आता है, बल मध्यम रहता है, तेजस्वी होता है, नेत्र तालु हथेली नाखूनमें सुर्खी ज़्यादा होती है, गरम चीजोंसे द्वेष और शीतल पदार्थोंकी अभिलाषा रहती है ।

कफ प्रकृति—कुछ श्यामता लिये दिखाऊ मनोहर शरीर हो, स्थिर चितवाला, बलवान, परिश्रमी, मधुर पदार्थोंको चाहने वाला, श्वेत नेत्रों वाला, विचारवान पुरुष होता है । दो दो दोषोंकी प्रकृतियोंके लक्षण कुछ कुछ मिलते हों तो द्वन्द्वज और तीनों दोषोंकी प्रकृतिके लक्षण मिलनेपर त्रिदोष प्रकृति कहाती है ।

सुधानिधि

आपने चरक, सुश्रुत सब छान डाले हैं; किन्तु यदि आप यह नहीं जानते कि संसारकी वैद्यक-विद्या आज कहांतक उन्नत हुई है, अपनी विद्यामें कौन कौन सी कमीवेशी है तो आपका ज्ञान पूरा नहीं माना जायगा। इसलिये—

[१] यदि आप वैद्यक-विद्यारूपी अमृतके समुद्रकी लहरोंका आनन्द लेना चाहते हैं और आयुर्वेदके पूर्ण चन्द्रके प्रकाशसे मन, नेत्र और हृदय शीतल करना चाहते हैं तो "सुधानिधि" को पढ़िये।

[२] यदि आयुर्वेदके पूर्ण महत्वके साथ संसारके आधुनिक वैद्यक विज्ञानकी बातें जानना चाहते हैं तो "सुधानिधि" से अपनी प्यास बुझाइये।

[३] यदि आप आरोग्य रहकर सुखसे जिन्दगी बिताना चाहते हैं तो "सुधानिधि" को आदर पूर्वक पढ़िये।

[४] यदि अपनी स्त्रियोंको सुचतुर गृहणी बनाना चाहते हैं तो उन्हें "सुधानिधि" पढ़नेको दीजिये।

[५] यदि सुप्रसिद्ध भारतीय वैद्योंके "अनुभूतप्रयोगोंसे" लाभ उठाया चाहते हैं तो "सुधानिधि" के ग्राहक बनिये।

[६] यदि समस्त सम्पादकों, वैद्यों, विद्वानों और आलोचकों द्वारा पूर्णरूपसे प्रशंसित वैद्यक-पत्र देखना चाहते हैं तो "सुधानिधि" को देखिये।

[७] सुधानिधिका दाम केवल १॥-) साल है।

[८] सम्पादक (आयुर्वेदपञ्चानन) जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य, दारागञ्ज, प्रयाग।

पता—मेनेजर, "सुधानिधि", प्रयाग।